

## जनजाति समुदाय के आर्थिक विकास में वनों का महत्व ( वागड़ के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. मोतीलाल बारोड़, प्राचार्य  
महर्षि वाल्मिकी महाविद्यालय, घाटोल, जिला बांसवाड़ा (राज.)

जनजातीय अर्थव्यवस्था के विकास की यात्रा भूख और भय से मुक्ति के प्रयास तथा सुरक्षित आवास एवं भोजन से प्रारम्भ होकर वनों के ईर्द-गिर्द संघर्ष कि निरन्तरता है। वन धरती पुत्र जनजातियों की बहुमूल्य प्राकृतिक सम्पत्ति है जिसके सहारे उनकी समाजिक, आर्थिक एवं पारिस्थितिकीय आवश्यकताओं कि पूर्ति होती है। आदिमकाल से जनजाति संस्कृति व वनों का चोली दामन का साथ रहा है। प्रारंभ से ही जनजातियों का निवास वन क्षेत्रों में ही रहा है। वनों ने जनजातिय जीवन एवं संस्कृति के उदभव, विकास तथा संरक्षण में आधारभुत भूमिका प्रस्तूत की है।

राजस्थान का सुदूर दक्षिणी भाग वागड़ प्रदेश के नाम से विख्यात है। वागड़ के बांसवाड़ा और डुंगरपुर जिले जनजाति उपयोजना क्षेत्र में सम्मिलित है। यह दोनों ही जिले भील जनजाति बाहुल्य जिले है। परन्तु इस क्षेत्र में डामोर, गरासिया और भील-मीणा जनजातियाँ निवास करती है। लगभग 70 प्रतिशत जनजातीय आबादी वाला वागड़ का विशाल क्षेत्र 23<sup>0</sup>1 से 24<sup>0</sup>1 उत्तरी अक्षांश 73<sup>0</sup>1 से 74<sup>0</sup>1 पूर्वी देशान्तरों के मध्य स्थित है जिसका क्षेत्रफल करीब 4000 वर्ग मील है।

यह जनजातीय बाहुल्य क्षेत्र आधुनिक चमक दमक से कटा हुआ अवश्य है तथापि प्राचीन सांस्कृतिक, पम्परा अक्षुण्ण बनाए रखने में अग्रणीय है। वागड़ की जनजातियों के धार्मिक आस्थाओं ओर विश्वासों से प्रकट होता है कि जनजातीय सामाजिक जीवन सौलह संस्कारों में बंधा हुआ है। जनजातीय प्रायः शहरी सभ्यता से बहुत दूर घने जंगलों, पर्वतों, घाटियों एवं पठारी क्षेत्रों में निवास करते है। भारतीय सविधान 1950 के अनुच्छेद उपखण्ड 1 में सुचना द्वारा जनजाति या जनजातियों के भीतरी समूह में परिभाषित किये जायेगे वे सब अनुसूचित जनजाति कहलायेगे।

### जनजातियों की अर्थव्यवस्था –

भारत में प्राचीन काल से जनजातिया जंगलों मे अपना जीवन यापन करती रही है। इन जनजातियों का मुख्य व्यवसाय कृषि करना, वन उपज को एकत्रित करना, पशुपालन, आखेट जंगलों से अनउपयोगी लकडियाँ निकालना, झुम पद्धति से कृषि करना मिलने पर मजदूरी करना आदि रहा है।

आदिम जनजातियों का आर्थिक दृष्टि से विभाजन मजूदामर तथा मदान ने चार वर्गों में विभाजित किया है।

1 भारतीय आदिवासी जनजातियों का एक बड़ा भाग वनों पर निर्भर रहा है। यह प्रायः वनों में या उनके निकट निवास करते है। भोजन जमा करना ही उनकी अर्थव्यवस्था की प्रमुखता है। ये लोग झुम पद्धति से कृषि करते है।

2 दूसरी श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं जो भोजन संग्रहीता तथा आदिम कृषि व्यवस्था के प्रकारों के बीच हैं।

3 तीसरी श्रेणी में कृषि के साथ साथ जंगलों से वनपत्तों का संचय करते हैं।

4 चौथी श्रेणी में स्थायी कृषि जो हल एवं उनसे सम्बन्धित पशुओं का प्रयोग कृषि कार्य में करते हैं।

**खेती और उनके तरीके** – जनजातियों ने बीना किसी भय के संघन वनों में जंगली जानवरों व प्राकृतिक आपदाओं से लड़ते हुए अपने जीवन को संघर्षमय बनाया। उन्होंने कृषि के लिए सर्वप्रथम जंगलों को काटकर जलाया। भूमि साफ कर कृषि के योग्य बनाई और पशुपालन को प्रोत्साहन दिया। धीरे-धीरे विभिन्न गाँवों तथा कस्बों का निर्माण किया गया। जनजातीय लोग प्रारम्भ से ही प्रकृति पूत्र रहे हैं। उनका आर्थिक जीवन भी बड़ा विचित्र रहा है। उनके जीवन में आर्थिक व्यवस्था तथा भौतिक वातावरण में प्रकृति का बड़ा योगदान रहा है। अतः स्वभाविक है कि आदिम मानव पर भी उनकी विभिन्न आवश्यकताओं के निर्धारण में आर्थिक पक्ष महत्वपूर्ण माना जाता है।

जनजातियों की अधिकांश जनसंख्या दुर्गम क्षेत्रों में निवास करती है। ये संचार के साधनों, नगरों और कस्बों से दूर थे, फलतः सम्पर्क के अभाव में गैर जनजातीय क्षेत्रों की कृषि सम्बन्धी उन्नत विधियों से जनजातीय लोग अनभिज्ञ रहे हैं। सिंचाई के साधनों का अभाव, उपजाऊ भूमि की कमी के कारण ये लोग परम्परागत कृषि व्यवस्था को अपनाये रहे हैं। मध्यकाल में दक्षिण राजस्थान में वागड़ की जनजातियाँ दाजिया या झुमटों प्रद्वति से भूमि को साफकर कृषि करने लगे। इस प्रद्वति के अन्तर्गत जनजातियों द्वारा जंगलों को काट कर जला दिया जाता था। जलाये गये स्थान को कुंदाली, गैती आदि औजारों से समतल बना देते थे तथा बारिश के दिनों में जब भूमि में नमी बढ़ जाती जब उन्हें औजारों से खोंद कर बीज डाल देते थे। फसल बोने एवं काटने के समय एक कृषक को अन्य जनजातीय परिवार के सदस्य भी सहयोग देते थे। इस प्रकार के सहयोग को **हल्मा** कहा जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी में जनजातियों ने व्यवस्थित तथा स्थायी कृषि की और विशेष ध्यान दिया। इस समय उन्होंने खेती के तरीकों में सुधार करते हुए लकड़ी से बने हल का उपयोग करना आरम्भ किया। उन्होंने नये कुएं खोदने के कार्य भी प्रारम्भ किये। कृषि तथा अन्य कार्य को सयुक्त रूप से आपस में मिलकर किया जाने लगा।

**आखेट** – जनजातीय संस्कृति का जंगल से चोली दामन का साथ रहा है। वनों के सहारे जनजातियों ने अपनी संस्कृति को विकसित किया घने जंगलों में विचरण करते हुए उन्होंने जंगली जानवरों शेर, भालु, सुअर, गेंडे, सर्प, अजगर, बिच्छु आदि से बचने के लिए आखेट का सहारा लिया। वनों एवं पहाड़ियों के आन्तरिक भागों में रहते हुए भील जाति शिकार करके अपनी आजीविका चलाते थे। मध्य काल में बाहरी आक्रमणकारियों ने इनके प्रदेशों पर अधिकार कर लिया तब उनकी स्वतन्त्रता का हनन हुआ। इससे पहले भील जनजाति जंगलों में झुम प्रद्वति से खेती पशुपालन, मजदूरी तथा आखेट स्वतन्त्र रूप से करती है। आखेट के मामले में भील बड़े ही निपुण थे। इनका निशाना बड़ा अचुक होता था।

**वन सम्पदा का उपयोग** – प्राचीन काल से जनजातीय लोग जंगलों को अपनी सम्पत्ति का प्रमुख अंग मानते हैं। भीलों का जीवन वनों पर ही आश्रित था। अपनी आजीविका के लिए वनों के संरक्षण में विभिन्न प्रकार की उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करते थे। अटठारहवीं शताब्दी में दक्षिणी राजस्थान में क्रमशः मेवाड़, डूंगरपुर, बॉसवाड़ा रियासतों में वनों का सधन आवरण था। इन क्षेत्रों में पाए जाने वाले प्रमुख पेड़ों के नाम इस प्रकार थे बबुल, बेर, चन्दन, धोक, धामन, धावड़ा गुदी, हल्दू, इमली, जामुन, कजरी, खेजड़ी, खेड़ा, कुमटा, महुआ, नीम, पीपल, सागवान, आम, मुमटा, सालर, बानोटीया, गुलर, बांस आदि वृक्षों का घनघोर जंगल था। इन जंगलों से प्राप्त विविध सामग्री का निःशुल्क उपयोग करते थे तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

**लघु वन उत्पादित वस्तुएँ**— दक्षिण राजस्थान के वनों में उत्पादित वस्तुओं में प्रमुख हैं – अरीठा, आंवला, गोंद, धावड़ा, बबुल, खेर, केलडी, कडैया, आवर, सेलाई वृक्षों से करा, कत्था, लाख, मौम धोली व काली मुसली, शहद इत्यादि।

**जडी-बुटियाँ** – जडीबुटियों का उपयोग जनजातीय लोग विभिन्न तरह के रोगों के निवारण के लिए करते थे जिनमें प्रमुख—आंवला का बीज, हेतडी आमदा, आक, करनीया, ब्राहीबोहड़ा रोंजडा, भोग पत्तिया धतुरा बीज हड भुजा, कनकी बीज, मेंण, अमरा, कोली, कादां, पडूला, गीगचा इत्यादि का उपयोग करते थे। आमदा के बीजों को पीसकर खाने से दस्त बंद होती है। अरण्डी के तेल से मालिश एवं पत्तों को गर्म कर के कमर में बाँधने से दर्द कम होता था। बुखार के लिए कडा वृक्ष के बीजों को पीस कर पीते थे। जोड़ों में दर्द के लिए ग्वार व सैजने के गोंद का उपयोग करते थे। फोड़े फुन्सियों एवं चर्म रोग के लिए नीम के पत्तों को उबालकर पीते थे। इसके अतिरिक्त तुलसी लौंग, सोठ, पीपल, काली मिर्च का उपयोग बुखार एवं जुखाम के लिए करते थे।

**व्यापार के रूप में उपयोग** – व्यापार वाणिज्य के लिए जनजातीय लोग अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को खरीदने के लिए तेंदु पत्ते का संग्रह करके बीड़ी बनाते थे तथा गोद रबड़ को अपने आस-पास के गाँवों कस्बों में बचने जाते थे। मुख्य रूप से खेर जैसने, धावड़े उदलरे आदि का गोंद यहाँ के जंगलों में मिलता था। रस्सी बनाने के लिए खाकरा, जूट, पानी जुला सवा आदि। महुआ के फलों का तेल निकालने के अतिरिक्त खाने, शराब बनाने एवं कस्बों में बेचा भी जाता था। बॉस की लकड़ी छीलकर ये टोकरियाँ बनाने, सूप झांडू कोठियां पंखे सीढियाँ बनाकर बेचा करते थे। भील महिलायें घास एवं विभिन्न तरह की लघु वन सम्पत्ति को एकत्रित करके निकट कस्बों में बेचने जाती थी। भील इन सभी वस्तुओं की बिक्री स्थानीय हाटों एवं मेलों के माध्यम से भी करते थे। प्राचीन काल में गुजरात व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बाजार था। इसकी सीमाएं दक्षिणी राजस्थान के राज्यों से मिलती थी। अतः यहाँ के भील महुआ के फूल और धावड़ी गोंद को अहमदाबाद रतनपुर एवं बड़ोदा तक बेचने जाते थे।

**ईंधन के रूप में उपयोग** – जलाने के लिए प्रमुख रूप से सांटेडा, काकुन, बबुल बावारिया, गुजर, बैर, धोंक की लकड़ी का उपयोग किया जाता था। अपने हथियार तीर-कमान बनाने के लिए सादेड़ा तथा बॉस लकड़ी का उपयोग किया जाता था। पशुओं का चारा कलम, जंगम जलेबी वीसी, सालर वोपारिया, गुलर मौखा, नरम दाल मीठी छाल दूब, वनफल, आदि वनों से निःशुल्क प्राप्त होता था। कृषि कार्य में धामन,

वावरिया, धावड़ा, नीम, सागवान बैर, बबूल, रेतुआ का उपयोग हल हमाडी, जोहरा बनाने के लिए किया जाता था। अपने मकान बनाने के लिए जनजातियाँ शीशम आदि की लकड़ी का उपयोग करते हैं। जंगलों से जनजातियों को प्रकृति द्वारा स्वच्छ वातावरण, स्वच्छ जल, नदियाँ, नाले झरने, पशु-पक्षियों का कोलाहल सीमित तापमान, हरियाली, आर्द्रता, समय पर वर्षा, मिट्टी कटाव से रोक, आंधी एवं तुफानों से रक्षा, प्राकृतिक खाद, बाढ़ पर नियंत्रण, वन्य प्राणियों का शिकार व मनोरंजन इत्यादि निःशुल्क उपलब्ध होते थे। इसलिए जनजाति की संस्कृति में प्रकृति का हमेशा घनिष्ठ सामंजस्य रहा है।

**वनों का आर्थिक महत्व** – वन आदिवासियों की धरोहर रहे हैं। वनों के संरक्षण से आदिवासियों की अर्थव्यवस्था को गति एवं संस्कृति को गरिमा प्रदान होती रही है। वस्तुतः वन आदिवासियों के पोषक रहे हैं जिनसे उन्हें विभिन्न प्रत्यक्ष लाभ जैसे— ईंधन, मवेशियों के लिए चारा, मकान निर्माण के लिए लकड़ी, खाद, फल-फूल, सब्जियों, खाने योग्य कन्दमूल विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ जड़ी-बूटियाँ अनेक वाणिज्य उपयोगी लघु वन उत्पादित वस्तुएं आदि प्राप्त हुए। अप्रत्यक्ष लाभ—स्वच्छ और शीतल वायु, पक्षियों का कलरव संतुलित तापमान, समय पर वर्षा हरियाली, खुशबू आंधी ओर तूफान से रोक तथा बाढ़ आदि से बचाव भी होता रहा है।

एस. एन. व्यास के अनुसार सन 1948 में राजस्थान के गठन के बाद जनजातियों को 1749-55 की समयावधि में वनों के उपयोग की अधिक सुविधाएं प्रदान की गयी जो क्रमशः इस प्रकार हैं।

1. हर जनजाति परिवार को हर तीन साल में मकान निर्माण के लिए 158 घन फीट लकड़ी और 15 घन फिट काष्ठ कृषि उपकरणों हेतु दिया जायेगा।
2. ईंधन मुफ्त दिया जायेगा।
3. वन क्षेत्र में मवेशियों को चरने दिया जायेगा।
4. घेराबंदी के लिए मुफ्त झाड़ियाँ प्रदान करना तथा
5. घास एवं पत्तियों का चारा मुफ्त प्रदान किया जायेगा आदि रियायतें प्रदान की गयी।

वर्तमान में वन विभाग द्वारा आरक्षित एवं सुरक्षित वनों पर भी आदिवासीयों के अधिकार लुप्त हो गए हैं। वनों एवं उनकी रियायतों पर प्रतिबंध लगा दिए तथा इनका उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड का प्रावधान रखा गया परिणामस्वरूप राज्य के विभिन्न आदिवासीयों लोग वन उत्पादित वस्तुओं से वंचित हो रहे हैं।

**वनों का आर्थिक महत्व** – वनों से कई लाभ होते हैं जो जलवायु को कम व सम बनाना, वर्षा आकर्षित करना, बाढ़ व आंधियों के प्रकोप को कम करना भूमि क्षरण को नियंत्रित रखना, वनस्पति अंश प्रदान करके मिट्टी में ह्युमस तत्व के द्वारा उत्पादकता बढ़ाना, भूमिगत जल स्तर को बनाये रखना, वन जीवों को संरक्षण प्रदान करना, वन वर्षा के समय जल के प्रवाह को नियंत्रित करते हैं तथा मृदा अपरदन एवं बाढ़ की समस्याओं पर नियंत्रण रखने के लिए प्रभावी भूमिका निभाते हैं। ये वनस्पति एवं जीव जगत की अनेक प्रजातियों को संरक्षण प्रदान करते हैं।

वनो के विनाश से इन सभी लाभों से मानवता वंचित होती जा रही है। अत्यधिक आर्थिक महत्व होने से आधुनिक युग में वनों का अदूरदर्शितापूर्ण ढंग से दोहन किया जा रहा है। विश्व पर्यावरण एवं विकास आयोग के अनुसार विश्व में प्रतिवर्ष 110 लाख हैक्टर भूमि

के वन नष्ट किये जा रहे हैं पर्यावरण विशेषज्ञ के अनुसार प्रत्येक देश में उपलब्ध भूमि के लगभग 33 प्रतिशत भाग पर वन होना आवश्यक है। भारत में केवल 19 प्रतिशत भू-भाग पर ही वन पाये जाते हैं। राजस्थान में कुल क्षेत्रफल का 9.49 प्रतिशत भाग वनों से आच्छादित है। राजस्थान में कुल वन क्षेत्र का 39.26 प्रतिशत आरक्षित वन 52.62 प्रतिशत रक्षित वन और 8.48 प्रतिशत अवग्रीकृत वन है। राज्य में प्रति व्यक्ति 0.06 हेक्टेयर वन क्षेत्र ही है जो राष्ट्रीय स्तर पर 0.11 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति से कम है।

मानव अपने स्वार्थवश भौतिक उन्नति के उद्देश्य से वनों का दोहन करता रहा है। मुलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव द्वारा भौतिक संसाधनों का प्रयोग जब तक केवल अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति तक संयमित रहा है, तब तक पर्यावरण और पारिस्थितिकीय संतुलन बना रहा है लेकिन आधुनिक काल में तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या से एसी विकट परिस्थिति पैदा हो गई है कि वन संरक्षण के बारे में सोचना आवश्यक हो गया है। पारिस्थितिकीय संतुलन के लिए देश में प्रतिवर्ष – वन महोत्सव व साथ ही मार्च में विश्व वानिकी दिवस तथा अक्टूबर के प्रथम सप्ताह को वन्य जीव सप्ताह के रूप में मनाया जाता है। इसमें कोई दो मत नहीं है कि वन और वन्य प्राणियों का विनाश मानवता के लिए दुर्भाग्यपूर्ण स्थित का सूचक है क्योंकि वन्य जीवन के बिना वनों की कोई सार्थकता नहीं है और वनों के बिना हम जीव जगत का अस्तित्व नहीं हो सकता ।

### संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. दोसी, शम्भुलाल एवं व्यास (1992) " राजस्थान की अनुसूचित जनजातियाँ " हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर पृ. स. 7-8
2. मेंहता, जोधसिंह (1954) " आदिवासी भील " साहित्य संस्थान राजस्थान विधापीठ, उदयपुर पृ. स. 19-20
3. दूबे, एस. सी (1986) " ट्राइवल हेरिटेज ऑफ इण्डिया " विकास पब्लिसिटी हाउस, नई दिल्ली पृ. स. 2-4
4. मीणा, जगदीश चन्द्र (2003) " भील जनजाति का सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन " हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर पृ. स. 49
5. मजुरमदार एवं मदान (1978) " द रेस एण्ड कल्चरल ऑफ इण्डिया एंथ्रोपोलॉजी, नई दिल्ली पृ. स. 153
6. तिवारी शिव (1998) " कुमार मध्य प्रदेश के आदिवासी मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल पृ. स. 183-192
7. माथुर, एवं पी. भील रेजिस्ट्रेस मूवेमन्ट पृ. स. 9-12
8. तिवारी शिव कुमार मध्यप्रदेश के आदिवासी पृ. स. 183
9. रिपोर्ट आन एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ डुंगरपुर स्टेट 1918 जिला सार्वजनिक पुस्तकालय डुंगरपुर
10. मेवाड़ गजेटियर भाग 2 पृ. स. 121-124
11. एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ डुंगरपुर स्टेट, 1939 पृ. स. 23

12. अर्सकिन मेवाड़ गजेटियर भाग-2 पृ. स. 127, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, उदयपुर
13. सिगलीगर, डॉ. पूनम वन एवं आदिवासी समाज पृ. स. 61, 63
14. एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ द मेवाड़ स्टेट 1904-05 पृ. स. 10
15. अर्सकिन, मेवाड़ के. डी. गजेटियर पृ. स. 131
16. पलात, रामचन्द्र (1987) "राजस्थान की वनविहारी जनजातियाँ" श्री नीलकमल पलात एण्ड ब्रदर्स" पाल झोथरी, भिण्डी जिला - डूंगरपुर राज. पृ. स. 64-67
17. जैन श्रीचद (1974) "वनवासी भील और उनकी संस्कृति" रोशनलाल जैन एण्ड संस, जयपुर द्वितीय संस्करण, 104-106
18. दोसी, डॉ. भाम्बुलाल एवं व्यास, डॉ. नरेन्द्र एन (1992) "राजस्थान की अनुसूचित जनजातियाँ हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर पृ. स. 69-72
19. सुभाषिनी कपुर (1990) "राजस्थान के भील और लोक संस्कृति सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली पृ. स. 35